International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में वर्ण से जाति का संक्रमण

भारती
शोधार्थी, इतिहास विभाग, चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय, भिवानी
डॉ. अर्जुन सिंह
शोध निर्देशक, चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय, भिवानी

सारांश

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत का सामाजिक इतिहास वर्ण और जाति के पारस्परिक संबंधों में आए व्यापक परिवर्तनों को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन धर्मशास्त्रीय परम्परा में भारतीय समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – इन चार वर्णों के अंतर्गत व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया था, किंतु सामाजिक व्यवहार इस सैद्धान्तिक व्यवस्था की तुलना में कहीं अधिक जटिल था। लगभग 600 ई. से 1200 ई. के बीच उत्तर भारत में राजनीतिक सत्ता के क्षेत्रीयकरण, कृषि भूमि के विस्तार, ब्राह्मणों एवं धार्मिक संस्थाओं को भूमि–अनुदान, नवीन ग्रामीण बस्तियों की स्थापना, जनजातीय समुदायों के कृषक समाज में समावेशन, व्यवसायों के विशेषीकरण तथा प्रशासनिक तंत्र के विस्तार ने अनेक नई सामाजिक पहचानों को जन्म दिया। ब्राह्मणों में क्षेत्र और मूल ग्राम के आधार पर उपविभाजन विकसित हुए, स्थानीय सैन्य एवं शासकीय समुदायों से राजपूत पहचान मजबूत हुई, लेखन और प्रशासन से जुड़े वर्गों से कायस्थ समुदाय का विकास हुआ तथा कृषक, व्यापारी, शिल्पी और सेवा–समूहों की अनेक जातियाँ सामाजिक संरचना का स्थायी भाग बनीं। अतः वर्ण से जाति का संक्रमण वर्ण–व्यवस्था के अंत का द्योतक नहीं था, बल्कि वर्ण के व्यापक वैचारिक ढाँचे के भीतर स्थानीय, वंशगत, व्यवसायगत और अंतर्विवाही जातीय इकाइयों के विस्तार की प्रक्रिया थी। प्रस्तुत शोध–पत्र इसी सामाजिक परिवर्तन का ऐतिहासिक विश्लेषण करता है।

मुख्य शब्दः वर्ण, जाति, उत्तर भारत, प्रारम्भिक मध्यकाल, ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, भूमि–अनुदान, सामाजिक गतिशीलता, क्षेत्रीयकरण।

प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक इतिहास के अध्ययन में वर्ण और जाति दो प्रमुख अवधारणाएँ हैं, किंतु इन दोनों को समानार्थी मान लेना ऐतिहासिक वास्तविकता को अत्यधिक सरल बना देता है। वर्ण मुख्यतः एक व्यापक धार्मिक और वैचारिक व्यवस्था थी, जिसके अनुसार समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसी चार श्रेणियों में रखा गया। इसके विपरीत जाति दैनिक सामाजिक जीवन से अधिक निकटता से जुड़ी हुई संस्था थी, जिसका आधार जन्म, विवाह, पेशा, स्थानीयता, कुल, वंश और सामुदायिक प्रतिष्ठा जैसे अनेक तत्व थे। प्रारम्भिक मध्यकाल तक आते–आते भारतीय समाज में ऐसी अनेक जातियाँ विद्यमान थीं जिन्हें केवल चार वर्णों के आधार पर समझना कठिन था। इरफान हबीब ने भी जाति के ऐतिहासिक विकास का

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

विश्लेषण करते हुए वर्ण की सैद्धान्तिक व्यवस्था और वास्तविक अंतर्विवाही एवं व्यावसायिक समूहों के बीच अंतर पर बल दिया है।[i]

लगभग 600 ई. से 1200 ई. का काल इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इस समय उत्तर भारत में राजनीतिक सत्ता का क्षेत्रीयकरण हुआ, नए राजवंश उभरे, कृषि का विस्तार हुआ और भूमि–अनुदानों की संख्या बढ़ी। नवीन प्रशासनिक एवं व्यवसायगत समूह भी सामने आए।[ii] इन परिवर्तनों ने सामाजिक पहचानों को अधिक स्थानीय और वंशगत स्वरूप प्रदान किया। इसलिए वर्ण से जाति का संक्रमण अचानक हुई किसी घटना का परिणाम न होकर कई शताब्दियों तक चलने वाली सामाजिक पुनर्संरचना थी। इसमें वर्ण वैचारिक आदर्श के रूप में बना रहा, किंतु व्यावहारिक सामाजिक संगठन क्रमशः जातियों और उपजातियों पर अधिक निर्भर होता गया।

वर्ण और जाति की अवधारणा

वर्ण–व्यवस्था भारतीय धर्मशास्त्रीय साहित्य में समाज के व्यापक वर्गीकरण के रूप में प्रस्तुत की गई है। ब्राह्मणों को धार्मिक कर्म, अध्ययन और अध्यापन; क्षत्रियों को शासन, रक्षा और युद्ध; वैश्यों को कृषि, पशुपालन तथा व्यापार और शूद्रों को सेवा संबंधी कार्यों से जोड़ा गया। किंतु यह वर्गीकरण सामाजिक व्यवहार को पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर सका। राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ विभिन्न वर्णों से संबंधित व्यक्तियों तथा समुदायों ने ऐसे व्यवसाय भी अपनाए जो धर्मशास्त्रीय आदर्शों में उनके लिए निर्धारित नहीं थे। इसलिए वर्ण को सामाजिक वास्तविकता का सटीक विवरण समझने के बजाय सामाजिक प्रतिष्ठा और धार्मिक वैधता की व्यापक अवधारणा के रूप में देखना अधिक उचित है।[iii]

जाति की प्रकृति इससे भिन्न थी। जाति सामान्यतः जन्म–आधारित और अंतर्विवाही सामाजिक समुदाय थी, परंतु उसके निर्माण में व्यवसाय, निवास–स्थान, कुल, वंश, धार्मिक सम्प्रदाय और राजनीतिक प्रतिष्ठा भी प्रभावी थे। एक ही वर्ण के भीतर अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ विकसित हो सकती थीं और उनमें आंतरिक ऊँच–नीच भी विद्यमान थी। ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आए अलबरूनी ने चार वर्णों का उल्लेख करते हुए ऐसे अनेक सामाजिक समूहों का भी वर्णन किया है जो इस चतुर्वर्णीय व्यवस्था के बाहर अथवा निचले स्तर पर स्थित थे।[iv] इससे स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक मध्यकाल तक वर्ण और जाति समान सामाजिक इकाइयाँ नहीं थीं। वर्ण व्यापक सैद्धान्तिक श्रेणी था, जबकि जाति विवाह, व्यवसाय, सामाजिक संपर्क तथा स्थानीय सामुदायिक संगठन को नियंत्रित करने वाली अधिक व्यावहारिक संस्था बन चुकी थी।

प्रारम्भिक मध्यकालीन सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि

लगभग छठी–सातवीं शताब्दी के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देते हैं। गुप्त साम्राज्य के विघटन के पश्चात् सत्ता का क्षेत्रीयकरण बढ़ा और अनेक छोटे–बड़े राजवंशों तथा सामन्तीय शक्तियों का उदय हुआ।

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

गुर्जर–प्रतिहार, पाल, चन्देल, परमार, चौहान, गहड़वाल और अन्य क्षेत्रीय शासक समूहों ने अपने–अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्रों का निर्माण किया। इन नई राजनीतिक शक्तियों के लिए प्रशासनिक नियंत्रण, राजकीय वैधता तथा ग्रामीण आर्थिक संसाधनों की उपलब्धता आवश्यक थी। इसी संदर्भ में ब्राह्मणों, मंदिरों और धार्मिक प्रतिष्ठानों को भूमि–अनुदान दिए जाने की प्रथा व्यापक हुई। आर. एस. शर्मा ने भूमि–अनुदान, स्थानीय अधिकारों और सामाजिक वर्गीकरण के विस्तार को प्रारम्भिक मध्यकालीन पुनर्गठन के महत्वपूर्ण पक्षों में माना है।[v] भूमि–अनुदानों के परिणाम केवल आर्थिक नहीं थे। उनके माध्यम से ब्राह्मण नए क्षेत्रों में बसाए गए और वहाँ धार्मिक संस्कार, शिक्षा, वैदिक परम्परा तथा सामाजिक आदर्शों का प्रसार हुआ। स्थानीय समुदायों का इन नई व्यवस्थाओं से संपर्क हुआ और उनकी सामाजिक स्थिति का पुनर्निर्धारण भी हुआ। दूसरी ओर कृषि–विस्तार ने वन तथा सीमांत क्षेत्रों को अधिक संगठित ग्रामीण अर्थव्यवस्था से जोड़ा। बी. डी. चट्टोपाध्याय ने प्रारम्भिक मध्यकाल को केवल प्राचीन व्यवस्था के पतन का काल न मानकर राज्य–निर्माण, कृषि–विस्तार और स्थानीय समाजों के एकीकरण की प्रक्रिया के रूप में समझाया है।[vi] इसलिए इस काल की जातिगत संरचना राजनीतिक क्षेत्रीयकरण, कृषि विस्तार और स्थानीय सामाजिक समूहों के पुनर्संयोजन से गहराई से जुड़ी थी।

भूमि–अनुदान, कृषि–विस्तार और जातियों का विकास

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में जातिगत संरचना के विकास को भूमि–अनुदान तथा कृषि विस्तार से अलग करके नहीं देखा जा सकता। राज्य द्वारा ब्राह्मणों, धार्मिक संस्थाओं और कभी–कभी अधिकारियों को भूमि प्रदान किए जाने से नए कृषि क्षेत्रों तथा ग्रामीण बस्तियों का विकास हुआ। कई भूमि–अनुदान ऐसे क्षेत्रों में दिए गए जहाँ पहले कृषि का विस्तार सीमित था। परिणामस्वरूप जंगलों, सीमांत भूभागों और जनजातीय निवास क्षेत्रों को क्रमशः व्यवस्थित कृषि अर्थव्यवस्था से जोड़ा गया। ब्राह्मण भूमि–अनुदान प्राप्तकर्ता केवल धार्मिक अनुष्ठान से जुड़े व्यक्ति नहीं थे, बल्कि नए क्षेत्रों में सामाजिक–सांस्कृतिक संपर्क और ग्रामीण संगठन की प्रक्रिया में भी उनकी भूमिका रही।[vii]

कृषि के विस्तार ने अनेक स्थानीय एवं जनजातीय समुदायों को स्थायी कृषक अर्थव्यवस्था से जोड़ा। सामाजिक संरचना में उनके स्थान का निर्धारण उनकी आर्थिक भूमिका, राजनीतिक प्रभाव और ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था से संबंध के आधार पर अलग–अलग ढंग से हुआ। कुछ प्रभावशाली स्थानीय प्रमुख उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके, जबकि सामान्य कृषक तथा सेवा–समूह व्यापक शूद्र अथवा निम्न जातीय श्रेणियों में सम्मिलित किए गए। इसके साथ ही ग्राम स्तर पर महत्तर, ग्राम प्रमुख और अन्य ग्रामीण अभिजात समूहों का महत्व बढ़ा। उपलब्ध प्रमाण बताते हैं कि ऐसे पद किसी एक जाति तक सीमित नहीं थे।[viii] अतः जाति निर्माण केवल धर्मशास्त्रीय निर्देशों का परिणाम नहीं था। भूमि पर अधिकार, कृषि उत्पादन, ग्रामीण प्रशासन और स्थानीय सत्ता भी सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्णायक आधार बने।

इसी प्रक्रिया से अनेक कृषक और सेवा–आधारित जातियों को अधिक स्थायी सामाजिक पहचान मिली।

ब्राह्मणों का क्षेत्रीयकरण और उपजातियों का प्रसार

प्रारम्भिक मध्यकाल में जातियों और उपजातियों के विस्तार का अत्यंत स्पष्ट उदाहरण ब्राह्मण समुदाय के भीतर दिखाई देता है। धर्मशास्त्रीय दृष्टि से ब्राह्मण एक वर्ण थे, किंतु वास्तविक सामाजिक जीवन में उनके भीतर गोत्र, प्रवर, वैदिक शाखा, मूल निवास–स्थान तथा क्षेत्र के आधार पर अनेक पृथक समूह विकसित हुए। भूमि–अनुदान अभिलेखों में ब्राह्मण प्राप्तकर्ताओं का परिचय केवल उनके नाम से नहीं, बल्कि गोत्र, वैदिक शाखा और मूल ग्राम से भी दिया जाता था। यह परम्परा संकेत करती है कि किसी ब्राह्मण की सामाजिक पहचान में उसके भौगोलिक मूल और वंशगत संबंध का महत्व लगातार बढ़ रहा था।[ix] आर. एस. शर्मा ने प्रारम्भिक मध्यकाल को जातियों के प्रसार और विभाजन का महत्वपूर्ण काल माना है। उनके अनुसार ब्राह्मणों में स्थानीयता की भावना का विकास उनके जातीय विखंडन में विशेष रूप से प्रभावी रहा।[x] जब ब्राह्मण अपने मूल क्षेत्रों से निकलकर विभिन्न भूमि–अनुदान प्राप्त ग्रामों में बसे, तब नई स्थानीय पहचानें विकसित हुईं। कुछ पीढ़ियों के बाद यही पहचान विवाह संबंधों और सामाजिक संगठन की सीमा भी बन सकती थी। बंगाल के राढ़ क्षेत्र तथा मिथिला के ब्राह्मण समुदायों में ग्राम एवं 'मूल' आधारित विभाजन इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं।[xi] इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की एकरूप धार्मिक प्रतिष्ठा के भीतर अनेक स्थानीय उपजातियाँ विकसित हुईं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जाति–निर्माण केवल निम्न सामाजिक समूहों की प्रक्रिया नहीं थी, उच्चतम धार्मिक प्रतिष्ठा वाले ब्राह्मण समुदाय के भीतर भी क्षेत्रीयकरण और वंशगत विभाजन ने नई जातीय पहचानें उत्पन्न कीं।

क्षत्रिय आदर्श और राजपूत पहचान का निर्माण

प्रारम्भिक मध्यकाल में क्षत्रिय वर्ण और राजपूत पहचान के बीच संबंध सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राचीन धर्मशास्त्रीय परम्परा में क्षत्रियों को शासन, युद्ध और प्रजा की रक्षा से संबंधित माना गया था, परंतु सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच उत्तर और पश्चिमी भारत में अनेक ऐसे नए शासक वंश उभरे जिनकी उत्पत्ति को किसी एक प्राचीन क्षत्रिय वंश से जोड़ना संभव नहीं है। स्थानीय मुखिया, सामन्त, सैन्य अधिकारी और क्षेत्रीय योद्धा समूह राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् क्रमशः उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने लगे। इस प्रतिष्ठा को स्थायी बनाने के लिए वंशावलियों, धार्मिक अनुष्ठानों, ब्राह्मण संरक्षण और प्रतिष्ठित वैवाहिक संबंधों का उपयोग किया गया।

बी. डी. चट्टोपाध्याय ने राजपूतों की उत्पत्ति को किसी एक नस्लीय अथवा विदेशी मूल का परिणाम मानने के स्थान पर प्रारम्भिक मध्यकालीन राजस्थान की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से जोड़ा है।[xii] उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भूमि पर नियंत्रण, सैन्य शक्ति तथा स्थानीय शासन से संबंधित समूहों की राजनीतिक प्रतिष्ठा धीरे–धीरे वंशगत सामाजिक प्रतिष्ठा में बदलती गई। इसी प्रक्रिया में 'राजपूत' पहचान अधिक स्पष्ट हुई। यह

परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता की संभावना को भी प्रकट करता है। राजनीतिक सफलता प्राप्त करने वाले समूह स्वयं को क्षत्रिय परम्परा से जोड़ सकते थे, किंतु प्रतिष्ठा स्थापित हो जाने के बाद वही समूह विवाह और वंश की सीमाओं को कठोर बनाकर पृथक जातीय समुदाय का रूप ले सकते थे। इस प्रकार राजपूतों का विकास राजनीतिक शक्ति के जातीय प्रतिष्ठा में रूपांतरण का प्रमुख उदाहरण है।

कायस्थों का उद्भवः व्यवसाय से जाति की ओर

कायस्थ समुदाय का विकास प्रारम्भिक मध्यकाल में किसी व्यवसायगत पहचान के धीरे–धीरे जातिगत स्वरूप ग्रहण करने का अत्यंत महत्वपूर्ण उदाहरण है। इस काल में क्षेत्रीय राज्यों और स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं के विस्तार के साथ भूमि–अनुदान पत्रों, राजस्व अभिलेखों, शासकीय आदेशों और लेखा–व्यवस्था को व्यवस्थित रखने के लिए शिक्षित लेखकों तथा अभिलेख–रक्षकों की आवश्यकता बढ़ी। प्रारम्भिक स्रोतों में 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग मुख्यतः लेखन अथवा प्रशासनिक कार्य से जुड़े व्यक्तियों के लिए किया जाता था। यह स्थिति संकेत करती है कि आरंभ में कायस्थ कोई पूर्ण विकसित जन्म–आधारित जाति न होकर विशिष्ट प्रशासनिक कार्य से संबंधित पेशागत समूह था। आर. एस. शर्मा के अध्ययन में कायस्थों का संबंध भूमि–अनुदानों के लेखन, अभिलेख संरक्षण और राजकीय प्रशासन से जोड़ा गया है।[xiii] समय के साथ प्रशासनिक विशेषज्ञता से जुड़े परिवारों ने इस व्यवसाय को पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपनाया। परिणामस्वरूप पेशागत पहचान वंशगत और सामाजिक पहचान में परिवर्तित होने लगी। बारहवीं शताब्दी तक कायस्थ अपेक्षाकृत स्पष्ट एवं प्रभावशाली सामाजिक समुदाय के रूप में सामने आते हैं। आगे उनके भीतर भी क्षेत्र और 'मूल' के आधार पर उपविभाजन विकसित हुए।[xiv] कायस्थों का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में जातियों का निर्माण केवल परम्परागत वर्ण सिद्धान्त के आधार पर नहीं हो रहा था। राज्य की प्रशासनिक आवश्यकताएँ, शिक्षा, लेखन–कौशल और व्यवसाय की वंशगत निरंतरता भी नई जातीय पहचान के निर्माण में निर्णायक भूमिका निभा सकती थी।

वैश्य और शूद्र की परिवर्तित स्थिति

प्रारम्भिक मध्यकाल में वैश्य और शूद्र वर्णों की सामाजिक एवं आर्थिक भूमिका भी महत्वपूर्ण परिवर्तन से गुजरी। धर्मशास्त्रीय परम्परा के अनुसार वैश्य कृषि, पशुपालन और व्यापार से जुड़े थे, जबकि शूद्रों के लिए मुख्यतः सेवा कार्य निर्धारित किए गए थे। किंतु वास्तविक सामाजिक–आर्थिक जीवन इस आदर्श विभाजन का पूरी तरह पालन नहीं करता था। कृषि के विस्तार और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नए समुदायों के समावेशन के कारण शूद्र समूहों की कृषि गतिविधियों में भूमिका बढ़ी। आर. एस. शर्मा ने ह्वेनसांग के विवरण के आधार पर संकेत किया है कि सातवीं शताब्दी तक शूद्र कृषक के रूप में महत्वपूर्ण सामाजिक स्थिति प्राप्त कर चुके थे।[xv] यह परिवर्तन वर्ण और पेशे के बीच पारम्परिक संबंधों के शिथिल होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। कृषि अब केवल वैश्य वर्ण का निर्धारित कार्य नहीं रही थी। इसके साथ ही व्यापार, शिल्प, पशुपालन और ग्रामीण सेवा कार्यों में भी अनेक विशिष्ट

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

सामाजिक समूह विकसित हुए। इसका अर्थ यह नहीं था कि वैश्य और शूद्र के बीच सामाजिक अंतर समाप्त हो गया, बल्कि यह कि उनकी वास्तविक आर्थिक भूमिकाएँ धर्मशास्त्रीय आदर्श से अधिक विविध हो गई थीं। अलबरूनी के विवरण में भी वैश्य और शूद्र समुदायों के कुछ सामाजिक व्यवहारों में निकटता का संकेत मिलता है। इरफान हबीब ने व्यवसायगत गतिशीलता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बताया है कि सामाजिक समूह परिस्थितियों के अनुसार नए कार्य अपना सकते थे।[xvi] अतः वैश्य और शूद्र की परिवर्तित स्थिति जाति व्यवस्था की जटिलता और आर्थिक परिवर्तनों के प्रभाव को स्पष्ट करती है।

जनजातीय समुदायों का समावेशन और नई जातियों का निर्माण

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में जातियों की संख्या और विविधता बढ़ने का एक प्रमुख कारण जनजातीय और स्थानीय समुदायों का व्यापक कृषक तथा राज्य व्यवस्था में समावेशन था। कृषि का विस्तार ऐसे सीमांत, वन तथा अर्ध–वन क्षेत्रों तक हुआ जहाँ अनेक स्थानीय समुदाय परम्परागत रूप से निवास करते थे। इन समुदायों का जीवन पशुपालन, वन संसाधनों और स्थानीय उत्पादन प्रणालियों पर आधारित हो सकता था। जैसे–जैसे नए ग्राम स्थापित हुए और भूमि पर संगठित राजकीय नियंत्रण बढ़ा, वैसे–वैसे इन समुदायों का संपर्क ब्राह्मणीय धार्मिक परम्पराओं, कृषि अर्थव्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं से बढ़ता गया। आर. एस. शर्मा ने प्रारम्भिक मध्यकाल में कृषि–विस्तार और स्थानीय समुदायों के ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था में समावेशन को सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में रेखांकित किया है।[xvii]

यह समावेशन सभी समूहों के लिए समान सामाजिक परिणाम नहीं लाया। प्रभावशाली जनजातीय अथवा स्थानीय मुखिया भूमि और राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते थे तथा प्रतिष्ठित क्षत्रिय परम्परा से स्वयं को जोड़ सकते थे। इसके विपरीत सामान्य समुदायों के बड़े हिस्से को कृषक, सेवा अथवा शिल्प आधारित जातियों में सम्मिलित किया जा सकता था। इस प्रक्रिया को केवल स्थानीय समाज पर ब्राह्मणीय व्यवस्था के एकतरफा आरोपण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। स्थानीय देवताओं, रीति–रिवाजों और धार्मिक विश्वासों का भी व्यापक धार्मिक परम्पराओं में समावेशन हुआ। बी. डी. चट्टोपाध्याय ने राज्य–निर्माण और कृषि–विस्तार के साथ स्थानीय समुदायों के क्रमिक सामाजिक–राजनीतिक एकीकरण को प्रारम्भिक मध्यकालीन परिवर्तन का महत्वपूर्ण आधार माना है।[xviii] चार वर्णों में विविध समुदायों को स्थान देने के लिए कभी उन्हें शूद्र, कभी वर्णसंकर तथा कभी प्रतिष्ठित वंशों से संबंधित बताया गया। इसलिए नई जातियों का निर्माण कृषि विस्तार, राजनीतिक शक्ति, स्थानीय प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक समावेशन के संयुक्त प्रभाव का परिणाम था।

जातियों के प्रसार में क्षेत्रीयता की भूमिका

प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में क्षेत्रीयता का विकास जातियों और उपजातियों के निर्माण की एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी। गुप्तोत्तर काल में राजनीतिक सत्ता अनेक क्षेत्रीय राज्यों

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

में विभाजित हुई और स्थानीय भाषाओं, धार्मिक केन्द्रों, तीर्थों, ग्राम समुदायों तथा क्षेत्रीय परम्पराओं का महत्व बढ़ा। परिणामस्वरूप व्यक्ति और समुदाय की सामाजिक पहचान केवल उसके व्यापक वर्ण तक सीमित नहीं रही। उसके मूल ग्राम, निवास–प्रदेश, गोत्र, कुल और स्थानीय सामाजिक संबंध भी उसकी पहचान के महत्वपूर्ण आधार बनने लगे। यही प्रक्रिया जातियों के क्षैतिज विभाजन को प्रोत्साहित करती थी।

ब्राह्मण समुदाय इस प्रवृत्ति का सबसे स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। भूमि–अनुदान प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों के परिचय में उनके मूल ग्राम और प्रदेश का उल्लेख किया जाने लगा। आगे चलकर ऐसे स्थान–सूचक नाम वंशगत पहचान बन गए। आर. एस. शर्मा ने इसी प्रक्रिया को जातियों की वृद्धि और स्थानीयतावाद से जोड़ा है।[xix] कायस्थों और अन्य पेशागत समुदायों के भीतर भी क्षेत्रीय विभाजन विकसित हुए। एक ही प्रकार का कार्य करने वाले अथवा समान व्यापक वर्ण से जुड़े समुदाय अलग–अलग भौगोलिक क्षेत्रों में पृथक सामाजिक इकाइयों का रूप ग्रहण कर सकते थे। अंतर्विवाह की सीमाएँ भी समय के साथ क्षेत्रीय और वंशगत होने लगीं। इसलिए जातियों का प्रसार केवल ऊँच–नीच की सामाजिक व्यवस्था का विस्तार नहीं था, वह समान वर्ण अथवा पेशे से जुड़े लोगों के भीतर क्षेत्रीय विभेद की प्रक्रिया भी था। इस दृष्टि से प्रारम्भिक मध्यकालीन जाति–संरचना को समझने के लिए स्थानीय इतिहास और भौगोलिक पहचान को विशेष महत्व देना आवश्यक है।

राज्य, सामाजिक प्रतिष्ठा और जातीय गतिशीलता

प्रारम्भिक मध्यकाल में जातिगत संरचना के विकास पर राज्य और राजनीतिक सत्ता का गहरा प्रभाव पड़ा। शासक केवल प्रशासनिक व्यवस्था संचालित नहीं करते थे, बल्कि भूमि, पद, संरक्षण और धार्मिक अनुदानों के वितरण के माध्यम से सामाजिक प्रतिष्ठा को भी प्रभावित करते थे। ब्राह्मणों को भूमि–अनुदान प्रदान करने से उनकी धार्मिक प्रतिष्ठा के साथ आर्थिक आधार मजबूत हुआ। मंदिरों तथा धार्मिक संस्थाओं को दिए गए संसाधनों ने भी उनसे संबंधित सामाजिक समूहों की स्थिति को सुदृढ़ किया। इसी प्रकार राज्य के प्रशासनिक विस्तार ने कायस्थ जैसे शिक्षित लेखकीय समुदायों की आवश्यकता और प्रतिष्ठा बढ़ाई।

सैन्य और सामन्तीय व्यवस्था ने भी जाति निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित किया। जिन स्थानीय योद्धाओं या मुखियाओं को भूमि, सैन्य शक्ति और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए, वे धीरे–धीरे प्रतिष्ठित शासक वंशों में परिवर्तित हो सकते थे। ब्राह्मणों द्वारा निर्मित वंशावली, धार्मिक अनुष्ठान और प्रतिष्ठित विवाह ऐसे समूहों की उच्च सामाजिक स्थिति को वैधता प्रदान कर सकते थे। राजपूत पहचान का विकास इसी प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण माना जाता है।[xx] अतः सामाजिक प्रतिष्ठा केवल जन्म से निर्धारित स्थिर तथ्य नहीं थी, राजनीतिक शक्ति उसे प्रभावित कर सकती थी। हालांकि ऐसी गतिशीलता की सीमाएँ थीं। एक बार कोई नया समूह उच्च जातीय स्थिति प्राप्त कर लेता था, तो वह अपनी प्रतिष्ठा को वंशगत बनाने और विवाह–संबंध सीमित करने का प्रयास करता था। इस प्रकार राज्य ने एक ओर सामाजिक

IJARMT

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

गतिशीलता के अवसर उत्पन्न किए, तो दूसरी ओर नई वंशगत जातीय सीमाओं को स्थायी बनाने में भी योगदान दिया।

धार्मिक विचारधारा और सामाजिक वैधता

प्रारम्भिक मध्यकाल में सामाजिक संरचना अत्यधिक जटिल हो जाने के बावजूद वर्ण की धार्मिक और वैचारिक अवधारणा समाप्त नहीं हुई। इसका प्रमुख कारण यह था कि वर्ण–व्यवस्था सामाजिक प्रतिष्ठा को धार्मिक वैधता प्रदान करने का प्रभावशाली माध्यम बनी रही। नई जातियों, स्थानीय शासक समूहों और व्यवसायगत समुदायों के उदय के साथ उन्हें चार वर्णों की व्यापक व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार स्थान देने का प्रयास किया गया। इसलिए सामाजिक वास्तविकता में जातियों की संख्या बढ़ती गई, जबकि वैचारिक स्तर पर चतुर्वर्णीय आदर्श को बनाए रखा गया।

अलबरूनी का ग्यारहवीं शताब्दी का वर्णन इस विरोधाभास को स्पष्ट करता है। उसने भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों का उल्लेख किया, लेकिन साथ ही ऐसे अनेक सामाजिक समूहों का भी वर्णन किया जो इस व्यवस्था के नीचे अथवा बाहर माने जाते थे।[xxi] इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त और व्यावहारिक सामाजिक संरचना में पर्याप्त अंतर था। दूसरी ओर जातिगत श्रेष्ठता के विरुद्ध वैचारिक प्रतिरोध भी मिलता है। सिद्ध तथा अन्य धार्मिक धाराओं ने जन्म और ब्राह्मणीय श्रेष्ठता पर आधारित भेद को चुनौती दी। बी. एन. एस. यादव ने बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारतीय समाज में ऐसी धार्मिक–सामाजिक आलोचनाओं की उपस्थिति की ओर संकेत किया है।[xxii] इसलिए धार्मिक विचारधारा केवल जातिगत संरचना को समर्थन देने वाली शक्ति नहीं थी, उसके भीतर विरोध और वैकल्पिक सामाजिक दृष्टियों के तत्व भी उपस्थित थे। यह स्थिति प्रारम्भिक मध्यकालीन समाज की वैचारिक जटिलता को प्रकट करती है।

वर्ण से जाति का संक्रमण: प्रक्रिया की वास्तविक प्रकृति

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत में वर्ण से जाति की ओर संक्रमण को किसी एक घटना, शासक या निश्चित कालखंड से जोड़ना उचित नहीं होगा। यह अनेक शताब्दियों तक चलने वाली क्रमिक और बहुआयामी सामाजिक प्रक्रिया थी। इस परिवर्तन के दौरान चार वर्णों की वैचारिक व्यवस्था समाप्त नहीं हुई, बल्कि उसके साथ–साथ जातियों और उपजातियों का अधिक जटिल सामाजिक संसार विकसित हुआ। वर्ण व्यक्ति और समुदाय की व्यापक धार्मिक प्रतिष्ठा को व्यक्त करता रहा, जबकि जाति विवाह, पेशा, स्थानीयता और सामुदायिक जीवन की वास्तविक इकाई के रूप में अधिक प्रभावशाली होती गई। इरफान हबीब के विश्लेषण से भी स्पष्ट होता है कि वर्ण की व्यापक सैद्धान्तिक श्रेणियों के समानांतर वास्तविक भारतीय समाज अनेक जन्म–आधारित, अंतर्विवाही और व्यवसायगत समूहों में संगठित था।[xxiii]

इस संक्रमण में कई प्रक्रियाएँ एक साथ सक्रिय थीं। कृषि–विस्तार ने नए कृषक समुदायों को जन्म दिया तथा जनजातीय और स्थानीय जनसमूहों को संगठित ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सम्मिलित किया। भूमि–अनुदानों के माध्यम से ब्राह्मण नए क्षेत्रों में बसे और उनमें क्षेत्रीय

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

उपविभाजन विकसित हुए। राजनीतिक परिवर्तन से स्थानीय योद्धा तथा सामन्त उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर राजपूत समुदायों का हिस्सा बने। प्रशासन के विस्तार ने लेखकीय व्यवसाय से जुड़े कायस्थों को विशिष्ट जातीय रूप प्रदान किया। व्यापार, शिल्प और सेवा कार्यों के विशेषीकरण से अनेक पेशागत जातियों का विकास हुआ। आर. एस. शर्मा ने जातियों के प्रसार को स्थानीयता, व्यवसायगत विभाजन और प्रारम्भिक मध्यकालीन सामाजिक पुनर्गठन से जोड़कर देखा है।[xxiv] इसी प्रकार अंतर्विवाह और वंशगत व्यवसाय ने इन समूहों की सीमाओं को स्थायी बनाया। इसलिए इस प्रक्रिया में कठोरता और गतिशीलता दोनों विद्यमान थीं। कुछ समूह सामाजिक स्थिति बदल सकते थे, किंतु नई प्रतिष्ठा प्राप्त होने के बाद उसे वंशगत और अपेक्षाकृत बंद सामाजिक संरचना में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती थी।

निष्कर्ष

लगभग 600 ई. से 1200 ई. के बीच उत्तर भारत में सामाजिक संरचना के स्तर पर हुए परिवर्तनों ने भारतीय जाति व्यवस्था को अधिक व्यापक, स्थानीय और जटिल स्वरूप प्रदान किया। चार वर्णों की धार्मिक एवं वैचारिक अवधारणा इस अवधि में समाप्त नहीं हुई, किंतु वास्तविक सामाजिक जीवन अब केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे चार वर्गों के माध्यम से संगठित नहीं था। इसके भीतर अनेक जातियों, उपजातियों, पेशागत समुदायों, स्थानीय समूहों और वंशगत पहचानों का विकास हो चुका था। इसलिए प्रारम्भिक मध्यकाल को वर्ण–व्यवस्था के अंत के बजाय उसके पुनर्संयोजन तथा जातिगत विस्तार के काल के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है।

भूमि–अनुदान और कृषि–विस्तार ने इस परिवर्तन को महत्वपूर्ण गति दी। ब्राह्मणों के नए क्षेत्रों में बसने से उनके भीतर ग्राम और क्षेत्र आधारित उपजातियाँ विकसित हुईं। स्थानीय योद्धाओं तथा शासकों के राजनीतिक उत्थान से राजपूत पहचान मजबूत हुई, जबकि प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण कायस्थ पेशागत समूह से जातिगत समुदाय के रूप में विकसित हुए। वैश्य और शूद्रों के पारम्परिक पेशागत संबंध भी बदलते गए और अनेक कृषक, शिल्पी तथा सेवा–समूह पृथक जातियों के रूप में संगठित हुए। इस प्रकार जाति–निर्माण धार्मिक सिद्धान्त की अकेली देन नहीं था। भूमि, कृषि, पेशा, राजनीतिक शक्ति, राज्य संरक्षण, स्थानीयता, वंश, अंतर्विवाह तथा सांस्कृतिक समावेशन सभी ने इसमें भूमिका निभाई। यही प्रक्रियाएँ आगे मध्यकालीन उत्तर भारत की बहुस्तरीय जातिगत सामाजिक संरचना की आधारभूमि बनीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचिः

[i] इरफान हबीब, "कास्ट इन इंडियन हिस्ट्री," एसेज इन इंडियन हिस्ट्रीः टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट परसेप्शन (नई दिल्लीः तुलिका, 1995), पृ. 161–163।

International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
An International Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 Website: https://ijarmt.com ISSN No.: 3048-9458

[ii] आर. एस. शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2009), पृ. 255–257।

[iii] हबीब, "कास्ट इन इंडियन हिस्ट्री," पृ. 164–166।

[iv] एडवर्ड सी. सचाउ, अनु., अलबरूनीज इंडिया, खंड 1 (लंदनः केगन पॉल, ट्रेंच, ट्रूबनर एंड कंपनी, 1910), पृ. 100–101।

[v] आर. एस. शर्मा, अर्ली मीडीवल इंडियन सोसाइटीः ए स्टडी इन फ्यूडलाइजेशन (नई दिल्लीः ओरिएंट लॉन्गमैन, 2001), पृ. 163–165।

[vi] ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, द मेकिंग ऑफ अर्ली मीडीवल इंडिया (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994), पृ. 16–18।

[vii] शर्मा, अर्ली मीडीवल इंडियन सोसाइटी, पृ. 163–165।

[viii] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 255–256।

[ix] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 257–258।

[x] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 257–258।

[xi] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 258।

[xii] ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, "ओरिजिन ऑफ द राजपूट्सः द पॉलिटिकल, इकोनॉमिक एंड सोशल प्रोसेसेज इन अर्ली मीडीवल राजस्थान," इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू 3, सं. 1 (1976): 59–61।

[xiii] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 254–255।

[xiv] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 257–258।

[xv] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 256–257।

[xvi] हबीब, "कास्ट इन इंडियन हिस्ट्री," पृ. 174–175।

[xvii] शर्मा, अर्ली मीडीवल इंडियन सोसाइटी, पृ. 163–165।

[xviii] चट्टोपाध्याय, द मेकिंग ऑफ अर्ली मीडीवल इंडिया, पृ. 16–18।

[xix] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 257–258।

[xx] चट्टोपाध्याय, द मेकिंग ऑफ अर्ली मीडीवल इंडिया, पृ. 57–59।

[xxi] सचाउ, अलबरूनीज इंडिया, खंड 1, पृ. 100–101।

[xxii] बी. एन. एस. यादव, सोसाइटी एंड कल्चर इन नॉर्दर्न इंडिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी (इलाहाबादः सेंट्रल बुक डिपो, 1973), पृ. 41–43।

[xxiii] हबीब, "कास्ट इन इंडियन हिस्ट्री," पृ. 161–163।

[xxiv] शर्मा, रीथिंकिंग इंडियाज पास्ट, पृ. 255–258।